जासकते हैं कि जिनमें अज्ञानताके कारण परम उपयोगी पदार्थोंके विषयमें मनुष्योंकी कैसी मिथ्या धारणा रही व रहा करती है और उससे दीर्घकाल पर्यंत यथार्थ लाभ नहीं लिया जासका और न अब ही लिया जाता है। नीतिकारने कहा है कि:—

नवेत्तियोयस्यगुणप्रकर्षं, सतंसदानिन्दतिनात्रचित्रम् ।
यथाकिरातीकरिकुम्भलब्धां मुक्तांपरित्यज्यविभर्तिगुंजाम्॥

अर्थात् जो जिसके गुणकी प्रकर्षताको नहीं जानता वह उसकी निन्दा सदा किया करता है । जिस प्रकार भीलनी हाथीके मस्तकके मोतीको छोड़ घुँघुर्चीको पहिनती है ।

(चाणिक्यनीति दर्पण)

जैनधर्मके विषयमें किम्वदन्तियां ।

ठीक यही दशा हमारे इस जैन धर्मकी हुई। और अपनी जैन धर्मके विषयमें अज्ञानताके कारण सर्वसाधारणने दीर्घकालसे इससे यथार्थ लाभ नहीं उठाया और न अब उठा रहे हैं वरन उलमें इसके विषयमें नितान्त ही मिथ्या अनेक किम्वदन्तियां भी प्रचलित हो रही हैं । कोई जैनियोंको नास्तिक, कोई बौद्ध धर्मकी शाखा, कोई वाममार्गी, कोई नग्न अश्लील मूर्ति पूजक, कोई वैश्योंका मत तथा इसी प्रकारके अनेक कुत्सित दोषोंसे आरोपित किया करते हैं । परन्तु मित्रो! विश्वास रक्खो कि इन प्रचलित किम्वदन्तियोंमें रंचमात्र भी सत्यता नहीं है जैसा कि आपको अनुसन्धान करने पर प्रगट हो जायगा ।

किम्वदन्तियोंके प्रचलित होनेका कारण ।

कोई भी कार्य बिना कारणके नहीं होता इसलिये हम

आपसे यह निवेदन करना चाहते हैं कि इन किम्बदन्तियोंके प्रचलित होनेका कारण क्या है। आपने अनुभव किया होगा कि अन्धकारमें रस्सी सर्प प्रतीत होती है। क्यों? इस कारण कि रस्सी और सर्पमें किंचित् आकारकी सदृशता है परन्तु यह अज्ञानका ही माहात्म्य है कि रज्जु और सर्पकी इस सदृशतासे रस्सी को सांप मनवा देवे। इसी प्रकार इन किम्वदन्तियों और जैन धर्ममें भी कुछ समानता है और यही कारण है कि उसके विषयमें अज्ञानतासे उपर्युक्त किम्वदन्तियां प्रचलित होगई।

जैनी नास्तिक नहीं हैं।

क्षमा करिये! जैनियोंका मन्तव्य है और उसपर उनको पूर्ण विश्वास भी है कि ऐसा कोई ईश्वर नहीं जिसने यह संसार रचा हो, जो उसका पालन और संहार कर जीवोंको उनके शुभाशुभ कर्मोका फल देता हो क्योंकि किसी भी समीचीन युक्ति और न्यायके प्रमाणसे ऐसा ईश्वर कदापि सिद्ध नहीं होता। सम्भव है कि इसीसे अनुमान लगा लिया गया हो कि जैनी अनीश्वर वादी आदि होनेके कारण नास्तिक हैं। परन्तु यह अनुमान सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि जैनी ही ईश्वरको माननेवाले हैं और उस ईश्वरका स्वरूप क्या है तथा उसकी आराधना करनेसे हमको क्या लाभ हो सकते हैं इसका विवेचन यथा स्थान किया जावेगा। जैनी सर्वतः आस्तिक हैं इस विषय पर हमने एक छोटा लेख "जैनियोंके नास्तिकत्त्व पर विचार" नामक श्री जैनतत्त्व प्रकाशिनी सभा इटावा द्वारा प्रकाशित ट्रेक्टमें किया है और आपसे सवि-

नय प्रार्थना है कि आप उस लेखको निष्पक्ष पढ़कर जैनियोंको नास्तिकत्वके कलङ्कसे मुक्त करदें।

जैनी बौद्धोंकी शाखा नहीं हैं।

जैनियोंको बौद्धोंकी शाखा कहना वैसा ही है जैसा कि पुरुषको स्त्री कह देना क्योंकि जैन और बौद्धोंमें आकाश पातालका अन्तर है। जैनी स्याद्वादी और बौद्ध क्षणिकवादी हैं। जैन और बौद्धोंका उल्लेख और खण्डन पृथक् पृथक् वेदान्तादि धर्म ग्रन्थों तथा जैन और बौद्ध शास्त्रोंमें यथाक्रम है। जैन धर्म बौद्ध धर्मसे अति प्राचीन और स्वतन्त्र धर्म है यही भूत व वर्तमानके प्रसिद्ध युरोपीयन मिष्टर व्हीलर (Mr. Wheeler), मिष्टर हार्वे (Mr. Harvey), मि. आर. बर्न (Mr. R. Burn), मि. ए. गिरनाट (Mr A. Guerninot), मिष्टर विन्सण्ट ए. स्मिथ (Mr Vincent A. Smith), डाक्टर फुहरर (Dr. Fuhrer), सर मोनियर विलियम्स (Sir Monier Williams) सर विलियम विल्सन हंटर (Sir William Wilson Hunter) मि. टी. डब्लू. राइ डैविड्स (Mr. T. W. RysDavids), प्रोफेसर बेन्डोल (Prof. Bendole), प्रोफेसर ओल्डनबर्ग (Porf. Oldenburg), प्रोफेसर मैक्समूलर (Prof. Max-Muller), प्रोफेसर एच. जेकोबी (Prof. H. Jacobi). मिष्टर आबे जे. ए. डुबाई (Mr. Abbaj A. Dubois), आदि तथा भारतीय मुन्शी शिवव्रतलाल वर्मन, मिष्टर वासुदेव गोविन्द और लोकमान्य पंडित बाल गंगाधरजी तिलक,

पंडित राममिश्र शास्त्री, डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर, मिष्टर वरदाकान्त मुख्योपाध्याय, बाबू योगेन्द्रनाथ भट्टाचार्य, मिष्टर कन्नूमल परिव्राजक, स्वामी योगजीवानन्द परम हंस आदि विद्वानोंका मत भी है। जैन धर्मको बौद्ध धर्मकी शाखा माननेका हेतु कदाचित् यह रहा होगा कि जिस प्रकार जैनी ईश्वरको सृष्टि कर्तादि नहीं मानते उसी प्रकार बौद्धोंका भी ऐसा ही सिद्धान्त है और बौद्ध धर्मके विषयमें सर्व साधारणकी जैन धर्मसे विशेष जानकारी रही है और है।

जैनी वाममार्गी नहीं हैं।

वाममार्गी लोग अपनी कामवृत्ति प्रज्वलित करने या किसी अन्य नृशंस हेतुसे जिस प्रकार नग्न मूर्तियोंको पूजते हैं ठीक उससे विरुद्ध संसारसे सर्वथा वीतराग रंचमात्र भी परिग्रह यहां तक कि लज्जा निवारणार्थ एक लंगोटी भी न रखनेवाले यथाजात मुद्राधारी भगवान सर्वज्ञ देव हितोपदेशक आप्तकी प्रतिमा अपने यथार्थ कल्याणार्थ जैनी लोग संसारसे वैराग्य प्राप्त होनेके अर्थ पूजते हैं। यद्यपि दोनों उद्देशोंमें रंचमात्र भी परस्पर सहानुभूति नहीं है परन्तु किया क्या जाय स्वरूपमें तो कुछ एकता है ही। और उससे अज्ञानताके कारण जो न अनुमान करलिया जाय वह न्यून ही है।

जैनियोंकी मूर्ति अश्लील नहीं है।

हम अपनी स्त्रीको अंकमें भेंटते हैं और अपनी बहिन और माताको भी परन्तु दोनोंके भेंटनेके समय हमारे भाव पृथक पृथक

होते हैं। माता और वहिनको भेंटते समय हमारे वह काम भाव कदापि नहीं होता जैसा कि स्त्रीको भेंटते समय होता है। इसी प्रकार वैराग्यताके साथ नग्नता अश्लील और भाव विगाड़नेवाली कदापि नहीं होसकती जैसी कि वह सांसारिक सराग दशामें हुआ करती है। यदि वैराग्यमें नग्नता अश्लील और चित्त विगा-ड़ने वाली होती तो क्यों महाराज भर्तृहरिजी अपने वैराग्य शतकमें:—

एकाकीनिस्पृहःशान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदाशम्भोभविष्यामि कर्मनिर्मूलनेक्षमः॥

दिगम्बरादि होनेकी वाञ्छा करते और क्यों आज कलके डिग्री-धारी विद्वान् मिस्टर के. नारायण स्वामी अय्यर बी. ए. एल. एल. बी. ज्वाइण्ट जनरल सेक्रेटरी थियासोफिकल सोसाइटी मद्रास (Digambar is the Highest Stage of the Saint) दिगम्बरता साधुओंकी सर्वोच्चकक्षा है कहते। इससे क्यां यह सिद्ध नहीं होता कि जो नग्नता सांसारिक सराग अवस्थामें अश्ली-ल और चित्त वृत्तिको विगाड़ने वाली होती है वही वैराग्य दशामें आत्माको परवस्तु शरीरादिसे ध्यान छुड़वाकर आत्मस्थ कर देने वाली होजाती है क्योंकि कारण विशेषसे कार्य विशेषकी उत्पत्ति न्याय सगत ही है। ऐसी दशामें क्या जैनियोंका निर्ग्रन्थ अव-स्थाके अपने वीतरागी इष्ट देवोंकी दिगम्बर मूर्तिका पूजन आक्षे-पणीय हो सका है? कदापि नहीं कदापि नहीं। वरन सर्वथा कल्याणकारी और योग्य ही है।

जैनमत वैश्योंका ही मत नहीं है।

यद्यपि जैन धर्म प्राणी मात्रका धर्म है और उसको धारण करनेका किसीको निषेध नहीं तथापि विशेषतः वह क्षत्रियोंका धर्म है। जिस प्रकार क्षत्रिय वर्ग अपने संहनन और बल वीर्यकी विशेषतासे अपने सांसारिक शत्रुओंको परास्त करनेमें विशेष उद्योग शाली और प्रबल हुआ करते हैं उसी प्रकार वह अपने कर्म शत्रुओंको सर्वथा उन्मूलन करके निज आत्माको शुद्ध करनेमें भी विशेष समर्थ होते हैं। यदि आप जैन शास्त्रोंका स्वाध्याय करें तो आपको इसकी सत्यता प्रतीत होजावे। प्रथमानुयोगके ग्रन्थोंमें जो विशेषतः इतिहासके प्रकरण हैं आपको श्रीरामचन्द्रादिके जैनी होनेके निष्पक्ष इतिहास मिलेंगे और अब भी भूगर्भसे जहां तहां निकली हुई क्षत्रिय राजाओं द्वारा प्रतिष्ठित जैन प्रतिमाओंकी न्यूनता नहीं है और अभी वह निकलती ही जाती हैं। प्रति कल्पमें दोबार जो (६३) तिरेसठ शलाका पुरुष अर्थात् चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नवनारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र होते हैं वह सब क्षत्रिय ही होते हैं। जैन मतको वैश्योंका ही मत माननेमें कदाचित यह कारण रहा होगा कि वर्तमानमें वैश्योंकी ही इस धर्ममें अधिकता पाई जाती है। यद्यपि यह सत्य है तथापि अब भी इसमें ब्राह्मण क्षत्रियादिका अभाव नहीं है।

इसी प्रकार आप कुछ भी बुद्धिसे काम लेनेपर जैन मतके विषयमें अन्य किम्बदन्तियोंका भी समाधान कर सक्ते हैं और

विचार सक्ते हैं कि अज्ञानता क्या क्या अनर्थ करके मनुष्योंको किस प्रकार ठग लिया करती है।

जैन मतके विषयमें प्रचलित किम्बदन्तियोंका इस प्रकार सुमुचित समाधान होजानेपर यह सहज ही प्रश्न उठते हैं कि जैन मत क्या है और कबसे है? इस कारण हम इन प्रश्नोंका भी संक्षिप्त उत्तर देते हैं।

जैनमत क्या है?

जैन मत वह मत है कि जो जीवोंके अनादि मिथ्यात्वको छुड़ाकर और अपने स्वरूपका सच्चा ज्ञान कराकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुखको प्राप्त कराकर सदैवके अर्थ परमात्मत्व पद (मोक्ष) में प्रतिष्ठित करा देता है और केवल यही वह मत है कि जिससे ही उपर्युक्त पद प्राप्त हो सक्ता है।

जैनमत कबसे है?

प्रत्येक ही मत अपनेको अनादि और श्रेष्ठ कहा करते हैं। परन्तु अनादि और श्रेष्ठ वही है जिसका कि किसी भी समयमें, अभाव और जिससे उत्कृष्ट कोई दूसरा धर्म न हो। जब कि जैनधर्म, आत्माका निज स्वभाव है तब आत्माके अनादि होने, उसका वर्णन प्राचीनसे प्राचीन शास्त्रों और ग्रन्थोंमें रहने और उसके तत्त्व व उपदेश सर्वदा ही मान्य और कल्याणकारी होनेके कारण उसकी अनादिता स्वयं सिद्ध है। रही उत्कृष्टता सो जब प्रायः सर्व ही धर्म "अहिंसा परमो धर्मः" की डौंडी

पांटते हैं और अन्य मतोंसे प्ररूपित अहिंसाके लक्षणमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भवदोष लगते हैं। इस कारण वे यथार्थ नहीं। परन्तु जैन मतका ही किया हुआ " प्रमत्त योगात् प्राण-व्यपरोपणं हिंसा " यह हिंसाका लक्षण निर्बाध सिद्ध होता है। और इससे सर्वथा वचना यह अहिंसा हुई और विशेष इससे स्वभाविक और उत्कृष्ट दूसरा लक्षण किया ही नहीं जासकता। तब यह सिद्ध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि जैनधर्म ही सर्वोत्कृष्ट धर्म है। इसी प्रकार यदि आप और भी सिद्धान्त की बातों को मिलाइयेगा तो आपसे यह गुप्त न रह सकेगा कि जैन मत ही यथार्थ पदार्थ है और दूसरे धर्म उसके एक देश प्रतिकृति मात्र हैं और जैन धर्म ही अनंत धर्मात्मक वस्तुके सर्व भेद कहता है और दूसरे मत केवल एक ही मात्र। अतः स्वतः सिद्ध होगया कि जैन मत अनादि, उत्कृष्ट और यथार्थ धर्म है। और दूसरे धर्म उसके केवल एक देश प्रतिकृति हैं। हमको भय है कि आप इसको अत्युक्ति समझेंगे परन्तु विश्वास रखिये कि यह एक नहीं वरन और भी वीसियों युक्तियोंसे सिद्ध किया जासक्ता है और जब आप स्वयम् निर्णय करनेपर कटिबद्ध होंगे तो यह आपसे कदापि अप्रगट नहीं रह सक्ता। हमारी इच्छा तो यही है कि आप स्वयम् इस विषयकी सत्यता जान लीजिये। अभी तो जैन मत आपको हउआ बतलाया गया है इसी लिये आप उससे भय भीतसे रहकर अपना यथार्थ कल्याण नहीं करते।

जैन मतका विशेष प्रचार क्यों नहीं है या होता?

जब जैन मत ऐसा यथार्थ सर्वोत्कृष्ट, अक्षय अनन्त सुख देने वाला, वस्तु स्वरूप प्ररूपक और अनादि है तो क्यों नहीं प्रत्येक मनुष्य उसको धारण कर सुखकी प्राप्ति कर लेता? यदि सर्वसाधारण अपनी अज्ञतासे उसको न जानकर धारण न कर सकें तो न सही पर क्यों नहीं सब बड़े बड़े विद्वान् जो कि निष्पक्ष होकर सत्यके ग्रहण करनेमें सर्वदा सचेष्ट रहते हैं उसको धारण करलेते? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर उत्तर यह है कि (१) प्रत्येक कार्यके लिये दो कारणोंकी आवश्यकता हुआ करती है, एक उपादान और दूसरा निमित्त। विना इन दोनों कारणोंके कोई भी कार्य नहीं हो सक्ता। अतः जैनी होनेरूप कार्यके लिये भी इन्हीं दो कारणोंकी आवश्यकता है जिनमें कि उपादान कारण तो आत्मा और निमित्त उपदेशादिकी प्राप्ति है। संसारी जीवोंके अनादि कालसे ही विशेषतः एक ऐसी मिथ्या वासना लगी है कि जो जीवोंको अपने यथार्थ स्वरूप, सुख और उसके प्राप्त करनेके उपायका श्रद्धान नहीं होने देती। यदि बलवान निमित्त मिले तो वह भव्य जीवोंकी इस मिथ्या वासनाको पृथक् कर सक्ता है। अत्यन्त खेदका विषय है कि निमित्तका प्राप्त होना काकतालीय न्यायवत् अतीव दुस्तर है। यदि किसीके अन्तरङ्गमें पुण्य कर्मका निमित्त भी हो परन्तु बाह्य उपदेशादिकी प्राप्ति न हो तो वह भी सच्चे धर्मकी प्राप्ति करानेमें कदापि समर्थ नहीं हो सक्ता। जब उपादान और निमित्त दोनों ही प्रबल हों तब ही सर्वोत्कृष्ट जैन धर्मकी प्राप्ति हो

सक्ती है। बाह्य निमित्त न प्राप्त होनेमें एक तो वर्तमान पंचम-काल और बहुत कुछ हमारे जैन भाइयोंका प्रमाद मूर्खता और बेहद बढ़ा हुआ शास्त्र आदिका विनय भी कारणभूत है। यदि हमारे जैनी भाई जरा भी उद्योग करें तो बहुतसे सज्जन पुरुषोंको जैन धर्म धारणकर अपना सच्चा कल्याण करनेका निमित्त प्राप्त हो सक्ता है। (२) जीवोंको विषय भोग ही विशेषतः रुचिकर होता है और जैन धर्ममें इसका अभाव है। अतः लोगोंकी रुचि जैन धर्मकी ओर नहीं होती। (३) जैनियोंका क्रिया काण्ड और आचरण इतना कठिन है कि स्वच्छन्द-तासे प्रवर्तने वाले जीव उससे घवड़ाककर इसको धारण नहीं करते। (४) जैन धर्म संसारका पोषक नहीं वरन क्षय-कारक है और हमारे सभ्यगण (Gentlemen) जिन्होंने कि संसारकी उन्नति करनेको ही अपना परम पुरुषार्थ समझ रक्खा है और अपनी इस धुनिमें जो मोक्षादिको भी कुछ नहीं समझते इस ओर नहीं झुकते। (५) जैन शास्त्रोंका तत्त्व कथन इतना सूक्ष्म और कठिन है कि विना भलीभांति किसी जैनी गुरु द्वारा नय प्रमाणादि जाने समझमें नहीं आता और इसके विषयमें इतनी मिथ्या किम्बदन्तियां प्रचलित हो रही हैं कि लोग इसको तुच्छ समझकर इस ओर ध्यान नहीं देते और यदि देते भी हैं तो आयु कायादिके निरर्थक विवादमें फंसकर तत्त्व चर्चाके समझनेमें सर्वथा असमर्थ रहकर जैनधर्मका स्वरूप ही नहीं जान पाते इत्यादि अनेक कारण हैं जो कि जैन धर्मके प्रचारमें बाधक होरहे हैं।

हैं, मैं आत्मा हूँ और मेरे साथ लगा रहनेवाला पर-तत्त्व पुद्गल जुदा हैं। मैं इस 'पर' के बन्धनमें पड़कर पराधीन हूँ, दुःखी हूँ, मुझे इस बन्धनको तोड़ना चाहिए। यह समझकर वह शरीरकी अपेक्षा आत्माको मुख्यता देता है, शरीरके लिए कोई पाप नहीं करता। इस तरह द्वैत-भावना उसे निर्विकार बननेको प्रोत्साहित करती है।

इस तरहके बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। उन परसे हमें मालूम होगा कि धर्मको प्राप्त करनेके लिए जो सम्प्रदाय बने हैं, वे जब बने थे तब उस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार किसी उपयोगी—कल्याणकारी—तत्त्वको लेकर बने थे। तभी वे खड़े हो सके। इसलिए मैं इस बातको कहनेका साहस करता हूँ कि सम्प्रदायोंके मौलिक (असली) रूपोंका धर्मके साथ—कल्याणके साथ—कोई विरोध नहीं है।

हाँ, हर एक सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका पीछेसे दुरुपयोग होता है। परन्तु इससे हम उन सम्प्रदायोंको बुरा नहीं कह सकते। दुरुपयोग तो अच्छेसे अच्छे तत्त्वका होता है। अहिंसा सरीखे श्रेष्ठ तत्त्वका दुरुपयोग होकर कायरताका प्रचार हुआ है। दीक्षाके नामपर बालक-विक्रय या बालक-चोरी भी होती हैं, द्वैतके नामपर स्वार्थका ही पोषण हो सकता है, अद्वैतके नामपर सब स्त्रियोंमें अद्वैत भावना रखकर व्यभिचारका पोषण हो सकता है। इसलिए दुरुपयोगको हटाकर हमें हरएक सम्प्रदायके मौलिक रूपपर विचार करना चाहिए और उसी दृष्टिसे उसकी आलोचना करना चाहिए। तब हमें सब सम्प्रदाय अपने अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार अविरुद्ध और अभिन्न मालूम होंगे, और अपनी योग्यतानुसार हम उन सभीसे लाभ उठा सकेंगे।

रोक्त पद इस कारण व्यवहृत किये जाते हैं कि जिससे वस्तुका एक गुण कहनेसे उस वस्तुमें उसके अन्य समस्त गुणोंका अभाव न समझ लिया जाय। दृष्टान्तार्थ आप एक मनुष्यमें ही देखिये कि उसमें कितने प्रकारके सम्बंध हैं। वह पिता है, पुत्र है, मामा है, भान्जा हैं, साला है, बहनोई है, शत्रु है मित्र है, गुरु है, शिष्य है और इसी प्रकार और भी बहुत कुछ है। यदि यह कहा जाय कि वह पिता है तो उसमें और सब सम्बंधोंका अभावसा प्रतीत होता है और इसी हेतु जैनी इस प्रकार कथन करते हैं कि किसी प्रकार वह पिता है अर्थात् अपने पुत्रका ही वह पिता है और सर्वका नहीं और पिता होते सन्ते भी वही मनुष्य अपने पिताका पुत्र भी है और इसी रीतिसे सर्व सम्बन्ध आप उसी मनुष्यमें घटा लीजिये, जो कि सर्व अपनी अपनी अपेक्षा उसीमें बन जावेंगे। इसी प्रकार और सर्व वस्तुयें भी अनन्त-धर्मात्मक हैं और उनके एक गुणका प्रकाशन होनेपर उनके अन्य गुणोंका अभाव उनमें सिद्ध न होजाय इसी कारण स्यात् या कथंचित् पदका व्यवहार किया जाता है। और आप विचार करसक्ते हैं कि यह कितना उपयोगी है। अनेक सज्जन यह भी जैनियोंको दोष देते हैं कि वह एक ही पदार्थमें दो विरोधी गुण भी मानते हैं और इसी लिये व्यासजीको जैनियोंका खण्डन करनेके लिये "नैकस्मिन्नसम्भवात्" सूत्र गढना पड़ा। मित्रो! किया क्या जाय वस्तुओंमें अनन्त गुण कुछ जैनियोंने उत्पन्न नहीं किये वरन् वह अनादि निधन हैं। जैनी केवल उन गुणों-को कथन करते हैं कुछ उस वस्तुमें गुण उत्पन्न नहीं करते।

जैसे जिस वस्तुमें गुण हैं वैसेही वह कथन करते हैं न्यूनाधिक नहीं। यदि किसी वस्तुमें अपेक्षासे विरोधी गुण भी हो तो जैनी उन गुणोंको भी अवश्य ही प्रकाशित करेंगे। आप स्वतः देख लीजिये कि यद्यपि बड़ा और छोटा परस्पर दो विरोधी गुण हैं। परन्तु वह प्रत्येक पदार्थमें ही पाये जाते हैं—वही पदार्थ बड़ा भी है और छोटा भी अर्थात् अपने छोटेसे बड़ा और अपने बड़ेसे छोटा। इसी भांति आप प्रत्येक विरोधी गुणको भी अपेक्षासे घटा लीजिये।

विरोधी गुणका दूषण उस समय आता जब कि जैनी एक ही पदार्थ या गुणसे उसको बड़ा छोटा दोनों कहते वह तो पृथक पृथक पदार्थ और अपेक्षाओंसे उसे कह रहे हैं इस कारण यह दूषण नहीं वरन् भूषण है। स्थालीपुलाक न्यायसे आप भलीभांति समझ सक्ते हैं कि स्याद्वादसे ही वस्तुका यथार्थ स्वरूप निरूपित किया जासक्ता है अन्य प्रकार कदापि नहीं। और जैनी ही इसको माननेसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप कह सक्ते हैं अन्य केवल उसका एक देशमात्र। यथा दृष्टान्त है कि छः जन्मसे ही अन्धे पुरुष हाथीके स्वरूपका निर्णय करनेको उद्यमी हुए। दैवयोगसे कोई हाथी वहांपर प्राप्त हुआ और उन अन्धोंमेसे एकने हाथीकी सूंड पकड़ी, दूसरेने कान, तीसरेने पूंछ, चौथेने टांग, पांचवेंने पेट और छठवेंने दांत पकड़ा वहांसे लौटनेपर वह आपसमें झगड़ने लगे क्योंकि सूंड़वाला हाथीको मूसलाकार, कानवाला सूपाकार, पूंछवाला रज्जाकार, टांगवाला स्तम्भाकार, पेटवाला पिटोराकार, और दांतवाला दण्डा-

कार कहता था। एक दृष्टिवाला बुद्धिमान् पुरुष वहां आ निकला और विवादका कारण जानकर उनसे कहने लगा कि मित्रो! व्यर्थ मत लड़ो। क्योंकि तुम सर्व किसी प्रकार सच्चे हो परन्तु तुममें दोष यह हैं कि हाथीको केवल एक एक अंङ्गोको ही देखकर तुम उसको हाथी कह रहे हो परन्तु वास्तवमें तुम सबके कहे हुए अङ्गोंका समुदाय ही हाथी है। यदि तुम इस प्रकार कहो कि हाथी किसी प्रकार ऐसा भी है तो तुम्हारा कथन युक्त हो सक्ता है परन्तु तुम तो यह मान रहे हो कि हाथी इस प्रकार ही है और इसी कारण इसका यथार्थ स्वरूप नहीं जान पाते। ठीक यही दशा जैन धर्म और दूसरे धर्मोंकी है। जैन धर्म स्याद्वादसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप निर्णय करलेता है और अन्य धर्म अपने एकान्त बादसे उसका एक देश मात्र जान पाते हैं।

मित्रो! इस प्रकार स्याद्वादका संक्षिप्त स्वरूप आपको दिखलाया गया और आपने देखा होगा कि लोगोंने इसको कैसा उल्टा समझा और इसी प्रकार जैन धर्मके यथार्थ स्वरूपको भी। अतः हम वाध्य हुए हैं कि आपको जैन धर्मका संक्षिप्त परन्तु यथार्थ स्वरूप दिखलावें।

आत्मस्थ होना ही सुखका कारण है।

इस संसारमें दो प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं—एक चैतन्य और दूसरे जड़। जिनमें कि चैतन्य गुण सम्पन्न जीव और जड़ पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश हैं। इन छः पदार्थोंमें पांच तो अमूर्तीक और मूर्तीक केवल एक पुद्गल ही है। क्योंकि उसीमें

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हैं। यह छहों द्रव्य अपने २ स्वरूप और परणतिसे स्वतन्त्र भिन्न २ और अनादि निधन हैं। यद्यपि जीव मात्र जाति अपेक्षा एक हैं तथापि व्यक्ति अपेक्षा पृथक २ हैं। सर्व जीव सुख ही चाहते हैं और उसीके अर्थ उनके सारे प्रयत्न हुआ करते हैं। संसारिक जीवोंको विशेषतः न तो यथार्थ सुखके स्वरूपका ही ज्ञान है और न उसके प्राप्त करनेका उपाय ही। और यदि उपरोक्त दोनों विषय ज्ञात भी हैं तो उस सुखके प्राप्त करनेका उचित उपाय वह नहीं करते या उनसे नहीं बनता। इस कारण उनको सुख नहीं प्राप्त होता। सुख यद्यपि जीवका निज स्वभाव ही है और उसकी प्राप्ति आत्मस्थ होनेपर ही होसक्ती है तथापि जीव अपने अज्ञान वशात् जो कि अनादि कालसे उसमें तीव्र मोहकी प्रबलता होनेसे अपना स्वरूप और शक्ति भूल जानेके कारण पर वस्तु पुद्गलकी एक पर्याय ज्ञानावरणादि कर्मोंके जिसका कि आस्रव जीवमें उसके विभाग राग द्वेषादि परणतिसे होकर एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध होनेके कारण उत्पन्न हुआ है। सातावेदनी नामक कर्मके उदयसे प्राप्त स्त्री, पुत्र, राज्य ऐश्वर्यादि जो कि यथार्थमें न तो सुखके देनेवाले हैं और न दुःखके देनेवाले हैं परन्तु कर्मोदयसे वैसे भासित होते हैं। क्षण भंगुर सर्वदा एक रस न रहनेवाले पदार्थोंमें जानता और उसकी प्राप्तिके अर्थ उचित अनुचित उपाय किया करता है और इसी कारण उसको प्राप्त नहीं करसक्ता और प्राप्त भी कहांसे करे जब कि सुख तो उनमें नाम मात्रको भी नहीं है। क्योंकि यदि होता तो जिन जिनको,

उपर्युक्त सामिग्री प्राप्त है वे वे सर्व सुखी हुये होते, वरन प्रत्यक्ष देखा जाता है कि वे सुखी नहीं हैं। यदि आपको इसका विश्वास न हो तो आप उपर्युक्त सामिग्रीवालोंकी यथार्थ दशा देखकर इसकी सत्यताका अनुभव कर लीजिये। रहा इस प्रश्नका समाधान कि यदि सातावेदनीकर्म द्वारा प्राप्त सामिग्रीमें सुख न होता तो क्यों जीव उसमें सुख मानता सो इसका उत्तर यह है कि यथार्थमें इन पदार्थोंमें सुख नहीं है, परन्तु जैसे तृषा और ग्रीषमसे अत्यन्त संतप्त मृग भ्रमसे प्रचण्ड सूर्यके आतापके कारण चमकती वालू आदि शुष्क पदार्थोंमें भी जलकी भावना कर भटका भटका फिरता है, तैसे ही यह जीव निज विभावरूप विषय सुखकी आकुलतासे इन सांसारिक पदार्थोंमें सुखकी प्राप्ति मानकर हापटा मारता है परन्तु सुखको कदापि नहीं प्राप्त होसक्ता।

संसारमें सुखका अभाव और जीवका अनादि निधनत्व।

हम समझते हैं कि चार्वाकादिक नास्तिकोंके अतिरिक्त जो कि जीव, ईश्वर, परलोक, पाप पुण्यादि अदृष्ट पदार्थोंका अस्तित्व नहीं मानते और कोई भी मत ऐसा नहीं है कि जिसने इन सांसारिक विषयोंमें सुख माना हो, और जिन जिन मतोंमें ईश्वरसे चक्रवर्त्यादि सांसारिक विभूतियोंको मांगना सिखलाया गया है वह मत भी अन्तमें इन क्षणभंगुर प्राकृतिक पदार्थोंसे चित्त हटाकर सुखकी प्राप्तिके लिये ईश्वरका ध्यान करने (आत्मस्थ होने) का उपदेश करते हैं। रहे

चार्वाकादिक जो कि जीवको पंच तत्त्वोंके ही मेलसे उत्पन्न हुआ मानते हैं, और स्वर्गादिकका अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते जैसा कि उनका वचन है कि—

नस्वर्गोनापवर्गोवा, नैवात्मापारलौकिकः।
नैववर्णाश्रमादीनां, क्रियाश्चफलदायिकाः॥

और इसी लिये—

यावज्जीवेत्सुखंजीवेत् ऋणंकृत्वाघृतंपिवेत्।
भस्मीभूतस्यदेहस्य, पुनरागमनंकुतः॥

Eat Drink and Be Merry अर्थात् खाओ, पिओ, और खुश रहो इत्यादि स्वच्छन्द प्रवर्तनेका उपदेश देते हैं। उनको भी पृथ्वी, अप, तेज, वायु, और आकाशके परस्पर मेलसे भिन्न जीव कोई प्रथक ही वस्तु मानना पड़ेगी क्यों कि—

पांचो जड़ ये आप हैं, जड़से जड़ही होय।
गुड़ आदिकसे मद भयो, चेतन नाहीं सोय॥
भूजल पावक पवन नभ, जहां रसोई जान।
क्यों नहिं चेतन ऊपजे, यह मिथ्या श्रद्धान॥

और जब जीव स्वतन्त्र तत्त्व सिद्ध होगया तो उसको अनादि और नाश रहित मानना पड़ेगा इस अर्थ कि—

बालक मुखमें थनको लेय। दावे ऐंचे दूध पियेय॥
जो अनादिको जीव न होय। सीख बिना क्यों जानैं सोय॥
मरके भूत होंय जे जीव। पिछली बातें कहैं सदीव॥
सिर चढ़ि बोलैं निज घर आय। तातैं जीव अमर ठहराय॥

और जब जीव अनादि और अमर सिद्ध होगया तो उसको

किसी न किसी योनिमें रहना ही पड़ेगा और उसको प्राप्तिके कारण कर्म अर्थात् पाप पुण्यादि ही होंगे और जब पाप पुण्यादि माने तो स्वर्ग, नर्क, और मोक्षसे इन्कार नहीं किया जा सक्ता। इस प्रकार सर्वेही अदृष्ट स्वीकार होजाने पर सांसारिक विषय भोगके पदार्थ कदापि सुखद नहीं होसक्ते।

आत्माके तीन भेद।

जीवको सुखकी प्राप्ति आत्मस्थ होनेपर ही होसक्ती है, परन्तु जैसे रक्तका अभिलाषी स्वान वहुत कालसे निकृष्ट स्थानोंपर पड़ी हुई रक्तमांस रहित शुष्क अस्थिमें रक्तादिकी भावना कर उस अस्थिको निज मुख द्वारा चाबता है, और उसका कोना चुभ जानेसे जो उसके मुखसे रुधिर वहता है उस रुधिरको वह उस अस्थि द्वारा प्राप्त मान उस अस्थि विषे विशेष प्रीतिमान होता है उसी प्रकार जो जीव अपनेमें सुख रहते सन्ते भी पर पदार्थ सांसारिक विषयोंमें सुख मानता है, और उन पदार्थों विषे प्रीति करता है और जो पदार्थ उनके बाधक समझता है उन प्रति द्वेष करता है उसको बहिरात्मा कहते हैं। जिन जिन जीवोंको यह पूर्ण विश्वास होगया है कि इन बाह्य सांसारिक पदार्थोंमें सुख नहीं है वरन सुख आत्मामें ही है। और उसकी प्राप्ति आत्मस्थ होनेपर ही होसक्ती है और ऐसा जान और मानकर जो सुखकी प्राप्तिके अर्थ आत्मस्थ होगये हैं या आत्मस्थ होनेका यत्न कर रहे हैं वे जीव अन्तरात्मा कहाते हैं। आत्मस्थ होकरके ही जिन जीवोंने अपने सुखादिको न प्रगट होने देनेवाले कारणोंका अभाव कर पूर्ण सुखादिकी प्राप्ति कर ली है उन की परमात्मा संज्ञा है।

आपने देखा होगा कि एक ही आत्माकी उसके गुणानुसार यह तीन संज्ञा है, और यह जीव ही परमात्मा होजाता है।

ईश्वरका कर्तृत्व।

अब कि यह जीव ही अपने स्वाभाविक गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुखके चतुष्टयको प्राप्त-कर परमात्मा होजाता है तो कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक-नय जो कि पर्यायको गौणकर शुद्ध द्रव्यको ही ग्रहण करती है या द्रव्य निक्षेप यथा राजपुत्रको राजा कहना द्वारा यह जीव वर्त-मानमें भी परमात्मा या ईश्वर है क्योंकि यदि न होता तो असत्-की उत्पत्ति यथा आकाशके पुष्प न होनेसे यह कदापि ईश्वर न होसक्ता। इस जीव (ईश्वर) ने अपने अनादि रागद्वेषादि विभावोंके कारणसे अपना संसार (कर्मानुसार चतुर्गति परिभ्र-मण) स्वयमेव स्वयम् ही उत्पन्न कर रक्खा है और यह ही इसका पालन करता है, और यह ही मोक्ष प्राप्त होनेपर इसका विनाश करदेता है, इस अपेक्षासे कहा जाता है कि ईश्वर संसारका उत्पन्न, पालन, और संहार करता है। सम्भव है कि जैसे हाथीका एक ही अङ्ग देखने वाला उस अङ्ग-को ही हाथीका सम्पूर्ण स्वरूप कहता था इसी प्रकार यथार्थ वस्तु स्वरूपको न जानने वाले लोगोंमें उपर्युक्त कर्तृत्व देखकर यह अनुमान लगा लिया हो कि ईश्वर ही सर्व संसारका उत्पन्न, पालन, और संहार कर्ता है। एकान्तवादसे ऐसा कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम तो जीवसे भिन्न कोई विशिष्ट आत्मा ऐसा ईश्वर ही किसी प्रत्यक्ष प्रमाण व समीचीन युक्तिसे प्रमाणित नहीं

होता; और द्वितीय जब साइन्सका सिद्धान्त है कि Nothing is destroyed and nothing is produced न तो कोई वस्तु नाश होती और न कोई उत्पन्न ही होती है। तब सर्व संसारका कर्ता कोई ईश्वर उस समय माना जावे जब कि कोई ऐसा भी काल सिद्ध होजाय कि जब इस संसारका अभाव रहा हो। प्रायः कर्तावादी इसके उत्तरमें यह कहते हैं कि कोई भी वस्तु विना कर्ताके नहीं बन-सकती इससे इन सर्वका निर्माता कोई कर्ता ईश्वर अवश्य है, और प्रत्येक ही वस्तु पर्यायान्तर हुआ करती है, इससे यह सिद्ध होता है कि किसी समयमें यह संसार प्रलयकी भी दशामें रहा होगा। प्रत्युत्तरमें निवेदन है कि जब प्रत्येक ही वस्तुको अपने कर्ताकी आवश्यक्ता है; तो आपका केवल ईश्वर या ईश्वर जीव और प्रकृति यह तीन पदार्थ ऐसे हैं कि जिनको सुजानेकी कोई आवश्यक्ता नहीं है, तथा जब प्रत्येक ही वस्तु पर्यायान्तर हुआ करती है। अर्थात् अपने एक स्वरूपको त्यागकर अन्य स्वरूप ग्रहण करलेती है, और इसी प्रकार करती रहती है तो फिर वह प्रलय कालमें जो कि सृष्टिकालके समान ही है कारण रूपमें होकर अपनी वेकार सुषुप्ति अवस्थामें पड़ी रहती है इन कथनोंसे बढ़कर और कौनसे कथन असंगत होसकते हैं। इत्यादि अनेक दूषण प्राप्त होते हैं कि जिससे जगत् कर्तादि ईश्वर है ऐसा कदापि नहीं सिद्ध होता।

जीवोंको कर्म फल कैसे प्राप्त होता है।

हमारे अनेक भिन्न धर्मावलम्बी भ्राताओंका ऐसा विश्वास है कि, जीव कर्म करनेमें तो स्वतन्त्र है परन्तु फल भोगनेमें परतन्त्र

है, और इस कारण कि कर्मोंको यह ज्ञान नहीं कि हमको कैसा फल देना है। और जीव पाप कर्मको करके उसका दण्ड भोगना नहीं चाहता परन्तु उसको भोगना ही पड़ता है इस कारण सिद्ध हुआ कि कोई कर्म फलदाता ईश्वर अवश्य है। उपर्युक्त कथन प्रमाण-बाधित और युक्ति शून्य है, क्योंकि यदि किसी ईश्वरको कर्मफलदाता मानिये तो जीव कर्म करनेमें भी कदापि स्वतन्त्र नहीं होसक्ता। दृष्टान्तार्थ किसी जीवने कोई ऐसा कर्म किया है कि जिसका फल यह होना है कि उसका धन नष्ट होजाय, या कोई अन्य दुःख उसको प्राप्त हो, ऐसा होनेमें कोई ईश्वर साक्षात् आकर तो कर्म फल देता ही नहीं, वरन किसी अन्यके द्वारा ही दिलाता है। मान लीजिये कि ईश्वरने किसी चोरको भेजकर उसका धन चुरवा लिया या अन्य किसीके द्वारा कुछ कष्ट दिलवाया जिससे कि उस जीवको उसके कर्मका फल प्राप्त हुआ। यद्यपि चोर या अन्य कोई कर्म फल दाता ईश्वरका आदेश पालनेसे सर्वथा निर्दोष है, परन्तु उसको भी दण्ड मिलता ही है। संसारमें राजाके सेवकको राजाज्ञानुसार अपराधीको दण्ड देनेसे किसी प्रकारका कोई दण्ड नहीं मिलता परन्तु ईश्वरका कार्य करने वालेको मिलता है, इससे सिद्ध हुआ कि कोई न्यायकर्ता ईश्वर नहीं। जो जो जीवोंको कर्मफल मिलते हैं वे वे किसीके निमित्तद्वारा ही प्राप्त होते हैं और वे वे निमित्त या तो किसी न किसी जीवके कार्य हैं या पुद्गल (प्रकृति) की कोई क्रिया ही। यदि कर्मफल प्राप्त होनेमें जीवोंकी या प्रकृतिकी वे वे क्रियायें ईश्वराधीन मानिये तो न जीव कर्म करनेमें भी स्वतन्त्र होसकता है

और न पुद्गल ही अपनी क्रियामें इस कारण कोई कर्मफल दाता ईश्वर नहीं। अब रहा इस प्रश्नका समाधान कि कर्म जड़ हैं और उनको इसका ज्ञान नहीं कि हमको क्या क्या फल देना है तो वह किस प्रकार फल देते हैं सो इसका उत्तर यह है कि जड़ पदार्थोंमें भी स्वयोग्य कार्य करनेकी शक्ति है। उदाहरणार्थ मद्य जिसमें कि जीवको उन्मत्त करनेकी शक्ति और जीवमें उन्मत्त होजानेकी जिस समय जीव और मद्यका संयोग होजाता है उस समय मद्यका उन्मत्त करनेवाला गुण जीवमें आजाता है और जैसा जैसा बाह्य निमित्त उसको प्राप्त होता जाता है तदनुकूल उसकी परणति उस उस प्रकार होती जाती है। उसी प्रकार परवस्तु पुद्गलके अनादि संयोगके कारण अपने रागद्वेषादि विभावको प्राप्त हुआ जीव त्रैलोक्यमें पूर्ण कार्माण वर्गणाओंके पुद्गलको अपनी ओर खींचकर निजकाम क्रोधादि कषायानुसार उनको ज्ञानावरणादि रूप उसी प्रकार परिणमता है जैसे कि अग्निके संयोगसे उष्णत्वको प्राप्त हुआ लोहेका गोला जलको अपनी ओर खींचकर बाष्प रूपकर देता है। जीवके और कार्माण वर्गणाओंके एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध होनेको बन्ध कहते हैं। ये बन्ध अवस्थाको प्राप्त पुद्गल कषायानुसार तीव्र या मन्द रस (फल) देनेको समर्थ होते हैं और जैसा जैसा बाह्य निमित्त प्राप्त होता जाता है तदनुकूल जीव वैसा वैसा परिणमकर अपने भावकर्म द्वारा नवीन नवीन अन्य कर्मोंका बन्ध करता जाता है जोकि उसके पूर्व किये हुये कर्मोंके फल स्वरूप भी हैं। यदि बाह्य निमित्त प्राप्त न हो या यदि बाह्य निमित्त भी प्राप्त हो परन्तु कर्मरस

देनेको सत्तामें न हो तो कर्म उदयको प्राप्त नहीं होसकता जैसे कि क्रोध जो कि पूर्व कर्मका फल स्वरूप है अपना रस देनेको उद्यत हो परन्तु उसको कोई ऐसा निमित्त न प्राप्त हो जिससे कि वह अपना फल दे सके तो वह उदयको नहीं प्राप्त होसकता और उसी प्रकार यदि किसीको क्रोधित होनेके बाह्य निमित्त भी मिलें परन्तु उस समय क्रोध सत्तामें न हो तो भी वह उदयमें नहीं आसक्ता। कर्मफल प्राप्त होनेमें स्वतः निमित्त नैमित्तकसम्बन्ध बन रहे हैं जिनमें कि किसी ईश्वरकी कोई आवश्यक्ता नहीं है।

ईश्वरका स्वरूप।

जब कि ईश्वर अन्य मतोंके समान सृष्टिकर्तादि नहीं है तो वह कैसा है? ऐसे प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है कि वह कर्म मल रहित शुद्ध जीव है जो कि अब अपने यथार्थ स्वभाव होनेके कारण सर्वज्ञ होगया है और जिसमें कि क्षुधा, तृषा, भय, जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, रति, अरति, विस्मय, खेद, स्वेद, मय, निद्रा, रागद्वेष और मोह ये अठराह दूषण नहीं रहे यथोक्तंच—

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितं।
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलिम् ॥
रागद्वेषभयामयान्तकजरालोलत्वलोभादयो।
नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो मया वन्द्यते ॥

या जो अब ऐसा विशिष्ट आत्मा होगया है कि जो—

न द्वेषी है न रागी है सदानन्द वीतरागी है। वह सब विषयोंका त्यागी है जो ईश्वर है सो ऐसा है॥ टेक ॥ न खुद

घटघटमें जाता है मगर घटघटका ज्ञाता है। वह सब बातों-का ज्ञाता है जो ईश्वर है सो ऐसा है ॥१॥ न करता है न हरता है नहीं औतार धरता है। मारता है न मरता है जो ईश्वर है सो ऐसा है ॥ २ ॥ ज्ञानके नूरसे पुरनूर है जिसका नहीं सानी। सरासर नूर नूरानी जो ईश्वर है सो ऐसा है ॥ ३ ॥ न क्रोधी है न कामी है न दुश्मन है न हामी है। वह सारे जगका स्वामी है जो ईश्वर है सो ऐसा है ॥ ४ ॥ वह जाते पाक है दुनियांके झगड़ोंसे मुबरा है। आलिमुल गैब है बे ऐब ईश्वर है सो ऐसा है ॥ ५ ॥ दयामय है शान्ति रस है परम वैराग्य मुद्रा है। न जाबिर है न काहिर है जो ईश्वर है सो ऐसा है ॥ ६ ॥ निरंजन निर्विकारी है निजानन्द रस विहारी है। सदा कल्याणकारी है जो ईश्वर है सो ऐसा है ॥ ७ ॥ न जग जंजाल रचता है करम फलका न दाता है। वह सब बातोंका ज्ञाता है जो ईश्वर है सो ऐसा है ॥ ८ ॥ वह सच्चिदानन्द रूपी है ज्ञानमय शिव स्वरूपी है। आप कल्याण रूपी है जो ईश्वर है सो ऐसा है ॥ ९ ॥ जिस ईश्वरके ध्यान सेती बने ईश्वर कहै न्यामत। वही ईश्वर हमारा है जो ईश्वर है सो ऐसा है ॥ १० ॥

या संक्षेपमें यों कहिये कि वह सर्वज्ञत्वेसति वीतराग अर्थात् ज्ञाता दृष्टा है।

जीव ही ईश्वर होजाता है।

ज्ञान गुण केवल जीवमें ही है। कोई जीव स्वल्प जानता है और कोई विशेष। और जीवोंके जाननेकी कोई मर्यादा नहीं है क्योंकि जिस वस्तुका ज्ञान आज असम्भव समझा जाता है कल ही कोई जीव उसका ज्ञायक उत्पन्न होजाता है इससे यह सिद्ध होता है, कि ऐसे भी जीव होंगे जो कि सर्व

पदार्थोंको जानते होंगे क्योंकि यह सर्व पदार्थ जो ज्ञेयस्वरूप हैं बिना किसीके ज्ञानमें आये रह नहीं सक्ते और वह केवल जीव ही है जो कि उनको जान सक्ता है। यदि जीवोंसे भिन्न कोई अन्य ऐसा अनादिसे ही व्यक्ति अपेक्षा सर्वज्ञ विशिष्टात्मा मानिये जो कि सबका ज्ञायक हो तो ऐसा विशिष्टात्मा किसी भी युक्ति युक्त प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता अतः यह जीव ही सर्वज्ञ होजाता है ऐसा सिद्ध हुआ। यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि जितनी जितनी वीतरागता बढ़ती जाती है उतनी उतनी ज्ञानकी शक्ति भी, और इसी कारण प्रत्येक ही मतमें संसारसे विरक्त पुरुष ही भविष्यद्वक्ता और विशेष ज्ञानी माने गये हैं। जब ज्ञानकी वृद्धि वीतरागताके साथ ही होती है तो यह स्वतः सिद्ध है कि जो सर्वथा वीतराग है वही सर्वथा पूर्ण ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ है। इस कारण यह हेतु जैनियोंके परमात्माओंको सर्वथा सर्वज्ञ सिद्ध कर रहा है।

जैनी पक्षपाती नहीं हैं।

जैनी यथार्थ वस्तु स्वरूपके प्ररूपक हैं और उनका किसीके प्रति द्वेष नहीं है इसी कारण उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि–

जो ज्ञेयोंका ज्ञाता है औ हुआ जग जलधि लहरें पार।
पूर्वापर अविरोधी अनुपम विशद वचन जिसके सुखकार॥
उस गुणसागर साधुपूज्य निर्दोष देवके पूजों पांव।
बुद्ध विष्णु शिव ब्रह्मा जिनवर उसका चाहे जो हो नांव॥

परन्तु ऐसा होनेपर भी उनके सब धान वाईस पंसेरी ही नहीं है वरन् वह गुणोंको यथावत् जानकर अपना कल्याण करने-

को उचित उपदेश ग्रहण करने वाले हैं जैसा कि कहा गया है कि—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

इसकी सत्यताका अनुभव तो आपको तब होवेगा जब कि आप जैनग्रन्थोंका स्वाध्याय प्रारंभ करेंगे उस समय आप देख सकेंगे कि कैसा निष्पक्ष और यथार्थ कथन जैन शास्त्रोंमें किया गया है। यह वह धर्म नहीं हैं जोकि यह सिखलावे कि तुम हमारी कही बातोंको विना कान हिलाये मान लो, वरन यह वह धर्म है जो सिखलाता है कि तुम परीक्षा प्रधानी बनो।

ईश्वरकी उपासना क्यों की जाती है?

यद्यपि जीव जाति अपेक्षा समान हैं और परमात्मा वीतरागी होनेके कारण किसीको सुख दुःख नहीं देता तथापि जैनी निज कल्याणार्थ उसकी उपासना करते हैं क्योंकि उनमें और परमात्मामें अभी केवल जाति अपेक्षा ही समानता है कुछ व्यक्ति अपेक्षा नहीं, या यों समझिये कि जैसे एक बीजमें स्थित वृक्ष व पल्लवित वृक्षमें हुआ करती है इस कारण उनको जब तक कि वह आत्मस्थ न होजावें अपना स्वरूप चिंतवन करने व कर्मोंके सर्वथा दूर करनेमें आदर्श स्वरूप व शुभ ध्यानके अर्थ चित्त एकाग्र करनेका स्थान रूप होने व उपकार मानने तथा संसारसे वैराग्य प्राप्त होनेको ईश्वरकी आवश्यकता है। जैसे कि चिरकालसे अफीम खानेका अभ्यासी उससे अतीव दुःखी है और उससे सर्वतः त्यागनेके अभिलाषी पुरुषको किसी एक

ऐसे पुरुषकी आवश्यकता होती है जो कि पहिले इसीके समान रहा हो, परन्तु अब वह अपने प्रयत्नोंसे उसको त्यागकर सुखी हो गया, हो जिसको कि पाकर वह उससे उन उपायोंको जान-कर ग्रहण करके सुखकी प्राप्ति कर ले। वैसे हम संसारी जीव जो कि कर्म संसर्गोत्पन्न दुःखसे आकुलित हैं और सुखकी प्राप्ति करना चाहता हैं, किसी ऐसे जीवकी अत्यन्त आवश्यकता है जो कि उसको सुख प्राप्त करनेका मार्ग बतला दे या जिससे कि उसको सुखकी प्राप्ति हो जाय। इस कारण कि जैनियोंको मोक्षका मार्ग तथा संसारसे वैराग्यतादि प्राप्त होनेमें ईश्वर कारण भूत हैं अतः वह उसकी उपासना करते हैं जो कि सर्व प्रकार उचित ही है।

हितोपदेशक आप्तके लक्षण।

सर्वसाधारण संसारी जीव अपनी अनादि कर्म संयोजन अज्ञानतासे यथार्थ वस्तु स्वरूपको नहीं जान पाते और जब तक यथार्थ ज्ञान न हो तब तक सर्व दुःखोंका मूल कर्म बन्धन कदापि उच्छिन्न नहीं हो सकता और न सुख ही प्राप्त हो-सकता है इस कारण वस्तु स्वभाव धर्मकी प्राप्ति होनेको एक आप्त उपदेशककी आवश्यकता है जोकि सर्वज्ञ वीतरागी और हितोपदेशक हो, क्योंकि यदि इनमेंसे एक भी गुण न होगा तो कदापि यथार्थ उपदेशकी योग्यता न हो सकेगी। यह तीनों गुण हमारे अर्हन्त महन्त (साकार) परमात्मामें ही पाये जाते हैं, अन्य आप्त नामधारियोंमें कदापि नहीं, क्योंकि प्रायः अन्य सर्व

मतावलम्बियोंने अपने आप्तोंको व्यक्ति अपेक्षा भी सर्वतः अनादि शुद्ध, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और अशरीर मान रक्खा है और ऐसोंमें उपदेशकी योग्यता कदापि नहीं हो सक्ती। क्योंकि—

नास्पृष्टः कर्मभिशश्वद्विश्वदृश्वास्तिकश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथानुपपत्तितः॥
प्रणीतिर्मोक्षमार्गस्य नविनाऽनादिसिद्धितः।
सर्वज्ञादितितत्सिद्धिर्न परीक्षासहासहि॥
प्रणेतामोक्षमार्गस्य नाशरीरोऽन्यमुक्तवत्।
सशरीरस्तुनाकर्मा सम्भवत्यज्ञजन्तुवत्॥
नचेच्छाशक्तिरीशस्य कर्माभावेऽपियुज्यते।
तदिच्छावानभिव्यक्ताक्रियाहेतुः कुतोऽज्ञवत्॥

अर्थात् किसी भी सर्वज्ञको कर्मनाशके कारण तपादि विना किये ही स्वयंसिद्ध होनेसे सदा कर्म रहित नहीं मान सकते क्योंकि उसमें स्वयं सिद्धता ही युक्ति संगत नहीं है। यदि अनादि सिद्ध सर्वज्ञके विना मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती ऐसा मानकर ईश्वरमें स्वयं सिद्धता मानते हो तो भी यह बात अविचारित ही है। अनादि सिद्ध सर्वज्ञको शरीर रहित मान-नेसे अन्य शरीर रहित मुक्तात्माओंकी तरह मोक्षमार्गोपदेशकत्व नहीं बनसकता और शरीर सहित माननेसे सशरीरी अन्य मूढ़ पुरुषोंकी तरह सदा कर्म रहितताकी सिद्धि नहीं होती। और यदि ईश्वरको कर्म रहित होनेसे भी उसकी इच्छा शक्तिको ही समस्त क्रियायोंमें हेतु मानोगे तोभी वह इच्छा किसी भी अभिव्यंजकके नहीं होनेसे इच्छाको व्यक्त करने वाले कारणके अभावमें अन्य पुरुषोंकी इच्छाकी तरह किसी भी क्रियामें कारण नहीं होसकती।

जीवमात्रका धर्म ।

जैन धर्म ही जीव मात्रका धर्म है क्योंकि यह वह धर्म है-

(१) जो कि वस्तु स्वरूप धर्मका पक्षपात रहित नय प्रमाणादिसे सिद्ध कर निरूपण करता है। जिसको कि वादी प्रतिवादी खण्डन करनेमें कदापि समर्थ नहीं हैं। (२) जिसमें असाभि अविधेयासम्बन्ध और अशक्यानुष्ठान नहीं हैं। (३) जो अनादिसे प्रचलित होकर जीवोंका सदैव यथार्थ कल्याण किया करता है। (४) जो स्वपर हिंसाका सर्वथा अभाव कर—

खम्मामिसव्वजीवाणं सव्वेजीवाखमंतु मे ।
मित्तीमेसव्वभूदेसु वैरंमज्झंणकेणवि ॥

मैं सब जीवोंको क्षमा करता हूं सब जीव मुझको क्षमा करें मेरा सब जीवोंके प्रति मैत्री भाव है किसीके भी प्रति शत्रुता नहीं ऐसा प्ररूपण कराकर प्राणी मात्रका अक्षय अनन्त सच्चा कल्याण करनेका उपदेश देता है। और (५) जिसकी छाप जीव मात्रपर अङ्कित हो रही है जैसा कि बतलाया गया है कि—

हरि हर ब्रह्माकी मुद्रासे मुद्रित जग दिखता न कहीं ।
सुरपतिके वज्रायुधसे और शशि रविकी किरणोंसे नहीं ॥
षट्मुख बुद्ध अनल फणपतिसे यक्षसे भी नहिं चिन्हित है ।
किन्तु देखलो जगत चराचर जिन मुद्रासे अंकित है ॥
विधिके दण्ड कमण्डलु आदिक चिन्ह कहां हैं बतलाओ ।
कहां कपाल लंगोटी खट्वा मुकुट रुद्रके दिखलाओ ।
हरिके शंख गदादि मुकुटके लाल वसन भी कहां कहो ।
किन्तु देख लो जिन मुद्रा मय नग्न रूप यह जगत अहो ॥

ट्रैक्ट रचनेका हेतु ।

मित्रो! यह ट्रैक्ट है कोई ग्रन्थ नहीं, इस कारण क्षमा करियेगा। इसमें बहुत संक्षेपसे ही कुछ लिखा गया है और ऐसा करते भी यह इतना होगया जिससे कि अब ईच्छा होनेपर भी समाप्त ही करना पड़ता है। तथापि आप इससे जैनधर्मके विषयमें कुछ भी नहीं जान सकते तो भी यह आपको उसके विषयमें कुछ जाननेकी अवश्य प्रेरणा करेगा और यही हमारे इस ट्रैक्ट रचनेका हेतु भी है। आपका ध्यान (यदि आप जैनधर्मसे सर्वतः अपरिचित हैं) कुछ भी इस ओर आकर्षित हुआ तो लेखक और प्रकाशक अपना परिश्रम सफल समझेंगे और यह उनका अहोभाग्य होगा यदि आपके इस काममें (जिसमें कि सहायता करना वह अपना सर्वोपरि कर्तव्य समझते हैं) वह आपको कुछ सहायता दे सकें। यदि आपको जैनधर्मके विषयमें कुछ शंका है या उसके जाननेमें आपको किसी प्रकारकी सहायताकी आवश्यकता है तो कृपया इस विषयमें मंत्री श्री जैनतत्त्वप्रकाशिनी सभा इटावासे निष्कपट पत्र व्यवहार करिये।

निष्पक्ष होनेकी आवश्यकता।

जब तक कोई निष्पक्ष न हो वह यथार्थ वस्तु स्वरूपका निर्णय कदापि नहीं कर सकता क्योंकि जिस समय मनुष्य यह विचारता है कि यह मेरा है, यह विराना, या मेरे मतवाले ऐसा मानते हैं, और दूसरे मतवाले ऐसा, तो उसके चित्तमें यह विचार विना उठे नहीं रहता, कि जो मैं या मेरे मतवाले मानते हैं वही ठीक

है, दूसरोंका कदापि नहीं, और यह विचार उसके यथार्थ निर्णय करनेमें बाधक होता है, निर्णय करनेके समय यह विस्मरण कर-देना चाहिये कि मेरा या मेरे मतवालोंका यह मत है, और दूसरों-का ऐसा, वरन निष्पक्ष न्यायकर्त्ता होकर यह विचारना योग्य है, कि एक पक्ष ऐसा मानता है, और दूसरा ऐसा, इसमें मुझको कौनसा पक्ष ग्रहणीय है। क्योंकि अपने कल्याणार्थ सत्य और निर्दोष पक्षका ही ग्रहण करूंगा। यदि आप सत्य और सार-ग्राही हैं तो कृपया ऐसा ही करके निज कल्याण कर लीजिये।

आश्वासन और आशीर्वाद।

अन्तमें हम एकवार पुनः आपको विश्वास दिलाते हैं कि आप अपना सच्चा कल्याण जैन धर्मसे ही कर सकते हैं और यह आपकी सबसे बड़ी भूल होगी यदि आप उनसे अपना कल्याण न करसकें। यह मनुष्य पर्याय और आपको प्राप्त सर्व सुखद सामिग्री बड़ी कठिनतासे काकतालीय न्यायवत् प्राप्त होती है, इस कारण इसको व्यर्थ यों ही न खोकर अपने यथार्थ सुखकी प्राप्ति अवश्य कर लीजिये यही हमारी हार्दिक शुभ कामना और आशीर्वाद है।
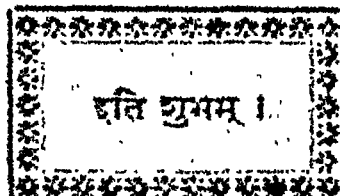
आवश्यक सूचनायें।

(१) जैनधर्म्म आत्माका निज स्वभाव है और एकमात्र उसीके द्वारा सुख सम्पादन किया जा सकता है।

(२) सुख मोक्षमें ही है जिसको कि प्राप्त करके यह अनादि कर्ममलसे संसार चतुर्गतिमें परिभ्रमण करनेवाला अशुद्ध और दुखी आत्मा निज परमात्मस्वरूपको प्राप्त कर सदैव आनन्दमें मग्न रहा करता है।

(३) स्मरण रक्खो कि मोक्ष मांगने और किसीके देनेसे नहीं मिलती। उसकी प्राप्ति हमारी पूर्ण वीतरागता और पुरुषार्थसे कर्म्ममल और उनके कारण नष्ट कर लेनेपर ही अवलम्बित है।

(४) स्याद्वाद सत्यताका स्वरूप है और वही वस्तुके अनन्त धर्म्मोका यथार्थ कथन कर सकता है।

(५) जैनधर्म्म ही परमात्माका उपदेश है क्योंकि वही पूर्वापर विरोध और पक्षपात रहित सब जीवोंको उनके कल्याणका उपदेश देता है और उसीसे परमात्माकी सिद्धि और उसकी छाप इस संसारमें है।

(६) एकमात्र 'ही' और 'भी' ही अन्य धर्म्म और जैन धर्मका भेद है। यदि उन सबके भाव और उपदेशकी इयत्ताकी "ही" "भी" से बदल दी जाय तो उन्हीं सबका समुदाय जैनधर्म्म है।

(७) मत समझो कि जैनधर्म्म किसी समुदाय विशेषका ही धर्म्म है या होसक्ता है। मनुष्योंकी तो कहे कौन जीवमात्र इसको स्वश-क्त्यानुसार धारण कर तद्रूप निज कल्याण कर सक्ते हैं।

(८) जैनधर्म्मके समस्त तत्व और उपदेश, वस्तु-स्वरूप प्राकृतिक नियम, न्यायशास्त्र, शक्यानुष्ठान और विकाश-सिद्धांतके अनुसार होनेके कारण सत्य हैं।

(९) सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशक देव, निर्ग्रंथ गुरु और अहिंसा प्ररूपक शास्त्र ही जीवको यथार्थ उपदेश देसक्ते हैं, और उन सबके रखनेका सौभाग्य एकमात्र जैनधर्म्मको ही प्राप्त है।

(१०) समस्त दुखोंसे उद्धार करनेवाली जैनेन्द्री दीक्षा ही है। यदि उसकी शक्ति न हो तो भी वैसा लक्ष्य रख अन्याय और अभक्ष्यका त्याग करके गृहस्थ मार्ग द्वारा क्रमशः स्वपर कल्याण करते रहना चाहिये।